हमारी-उलझन

श्री भगवती चरण वर्मा

विषय-सूची

१—ईश्वर १

२—परिग्रहण और दान १०

३—एक साहित्यिक दृष्टिकोण १७

४—विचार-विनिमय २५

५—सुविधा का धर्म ३३

६—दीवाली ४०

७—चर्खा ५०

८—एक आक्षेप ५६

९—धोखा घड़ी ६३

१०—श्रेणी भेद ७०

११—हरखू की बरात ७८

१२—अहम का विकास ८४

१३—बीमारी का कारण ९२

१४—होली १०२

१५—इस सब के बाद १०९

ईश्वर

लोग मुझसे अकसर पूछा करते हैं, "क्या तुम्हें ईश्वर पर विश्वास है ?"

मैं नहीं जानता कि मैं उन्हें क्या उत्तर दूँ। मैंने कभी इस प्रश्न पर सोचा नहीं, सोचने की आवश्यकता भी तो नहीं समझी।

मुझ पर मुसीबतें पड़ीं, ऐसी मुसीबतें जिनकी कल्पना करने से ही हृदय काँप उठता था। लेकिन जब वे मुसीबतें सर पर आईं तब मैंने यह अनुभव किया कि वे मुसीबतें कुछ भी नहीं हैं। नित्य ही घटित होने वाली साधारण घटनाओं की भाँति वे मुसीबतें भी आईं और चली गईं। लोगों का कहना है कि मुसीबतों के समय खुदा याद आता है, पर मैं यक़ीन दिलाता हूँ कि उन मुसीबतों के समय भी मैंने ईश्वर के विषय में कुछ नहीं सोचा।

इस सब का कारण शायद यह था कि उस समय मेरे हृदय में उत्साह का उन्माद था, जवानी का जोश था और उज्ज्वल भविष्य की एक कल्पना थी।

× × ×

पर आज मैं ही अपने से पूछ रहा हूँ, "क्या तुम्हें ईश्वर पर विश्वास है ?"

ईश्वर

आज जब मैं जिन्दगी की कल्पनाओं को देखते देखते निराश-सा हो रहा हूँ, आज जब मैं थका और हारा सा वर्तमान के प्रति जबर्दस्ती आँखें बन्द करके विगत पर मनन करता हूँ, भविष्य की कल्पना करता हूँ, तब मैं अनायास अपने से पूछ उठता हूँ, "क्या तुम्हे ईश्वर पर विश्वास है ?"

मैं देख रहा हूँ कि पहले मुझमें अनुभवों की कमी थी, और इसलिए अपने अन्दर वाली नेकी के कारण मुझे नेकी पर विश्वास था। उन दिनों मैंने लोगों से भले ही कह दिया हो कि मुझे ईश्वर पर विश्वास नहीं, पर इतना जानता हूँ कि नेकी और सुन्दरता पर मुझे विश्वास था और इसलिए मुझे ईश्वर पर विश्वास था। वह विश्वास मेरे अन्दर जड़ जमाए बैठा था और इसलिए मुझे कभी सोचने की या यों कहिये कि उस विश्वास पर फिर से गौर करने की जरूरत ही नहीं पड़ी। जब-जब मैंने यह कहा कि मुझे ईश्वर पर विश्वास नहीं तब तब मेरा मतलब उस ईश्वर से था जो देवालयों में पूजा जाता है।

पर आज जब दुनिया की कुरूपताओं का मुझे अनुभव हुआ, आज जब नेकी पर मेरा विश्वास डिगने लगा है तब यह प्रश्न मेरे सामने खड़ा हो ही गया है। आज मुझे इस प्रश्न का उत्तर पाना ही है कि क्या ईश्वर है ; आज अपने विश्वास वाले ईश्वर के नष्ट हो जाने के बाद उसके स्थान पर बुद्धि द्वारा ईश्वर को स्थापित किया जा सकता है ?

इस स्थान पर मेरे लिए सबसे पहले आवश्यक होगा

ईश्वर के रूप को समझ लेना—दूसरों के वास्ते नहीं बल्कि अपने वास्ते।

हम बनते हैं—तो हमें बनाने वाला भी कोई होगा! जो हमें बनाने वाला है वही ईश्वर है—यह मैं माने लेता हूँ।

हम मिटते हैं—तो हमें मिटाने वाला भी कोई होगा। जो हमें मिटाने वाला है, वही ईश्वर है—यह भी मैं माने लेता हूँ।

पर इस बनाने और मिटाने वाले ईश्वर पर विश्वास करने अथवा अविश्वास करने से होता क्या है? हम बनने और मिटनेवालों को उस बनाने और मिटाने वाले से क्या सरोकार? हमें तो सरोकार इस बात से है कि वह हमें क्यों बनाता है और क्यों मिटाता है?

कलाकार एक चित्र बनाता है, और चित्र में अपूर्णता होने पर वह उस चित्र को मिटा देता है—इसके बाद वह फिर उस चित्र को बनाता है। और चित्र का मिटना-बनना उस समय तक जारी रहता है जब तक चित्र पूर्ण रूप से न बन जाय।

चित्र और मनुष्य में भेद केवल इतना है कि जहाँ चित्र निर्जीव है वहाँ मनुष्य सजीव है; जहाँ चित्र स्वयं बन-बिगड़ नहीं सकता वहाँ मनुष्य अपनी बुद्धि द्वारा स्वयं बन-बिगड़ सकता है।

और चाहे हम स्वयं बनने-बिगड़ने वाले ईश्वर हों या हमें बनाने अथवा बिगाड़ने वाला ईश्वर कोई दूसरा हो, हम इतना जानते हैं कि हमें बनकर और बिगड़कर सम्पूर्ण बनना है।

हम सम्पूर्ण बनने वाले मानव हैं! पुनर्जन्म पर विश्वास के अनुसार मैं अनेक जन्मों में आधाकर हमें सम्पूर्ण बनना है; या हम सम्पूर्ण बनने वाले समाज के नश्वर भाग हैं और विकास के क्रम में हमें सहयोग देते रहकर, समाज को सम्पूर्ण बनाने का हमें प्रयत्न करना है—यह एक ही बात है। हम इतना जानते हैं कि हमें सम्पूर्ण बनना है।

और मैं समझता हूँ कि सम्पूर्ण ही ईश्वर है। सम्पूर्णता सत्य है, सम्पूर्णता सुन्दर है, सम्पूर्णता कल्याण है। जो अपूर्ण है वही कुरूप है, जो कुरूप है वही मिथ्या है, जो मिथ्या है वही अकल्याणकारी है।

सत्य, शिव और सुन्दर यह तीनों सम्पूर्णता की इकाई के तीन पहलू हैं।

और हमारी जिन्दगी की कुछ न कुछ सार्थकता तो होनी ही चाहिए। आज तक निरर्थक मैंने किसी काम को नहीं देखा—हर काम के पहले एक कारण रहा करता है। इस सृष्टि का कारण, जहाँ तक मैं कल्पना कर सकता हूँ, सम्पूर्णता प्राप्त करना है।

× × ×

लोग उन तकलीफों की तरफ इशारा करते हुए जिनसे वे दुखी हैं, जिन्हें अपनी नेकी से वे दूर नहीं कर सकते, मुझसे कहते हैं कि नेकी पर विश्वास करना व्यर्थ है। वे ऐसे अन-गिनती आदमियों का हवाला देते हैं जो सुखी हैं, सम्पन्न हैं,

वैभव वाले हैं लेकिन जिनमें नेकी का नाम नहीं। उनका कहना है कि बिना बेईमानी किये, बिना शैतान को आत्म-समर्पण किये कोई आदमी लखपती या करोड़पती नहीं बन सकता, लखपती एवं करोड़पती आदमी भी—चाहे जितना पतित या कलुषित वह क्यों न हो—हर समाज में इज्जत होती है, हर क्षेत्र में वह पूजा जाता है।

वे लोग गलत नहीं कहते—मैं जानता हूँ। मैं अपने चारों तरफ़ देखता हूँ और हर जगह लूट का बाज़ार गरम है। लूटने वाले हँसते हैं, मौज करते हैं। अभी उसी दिन एक सज्जन ने बहुत गम्भीरता पूर्वक मुझसे कहा था, "अगर सुखी रहना चाहते हो तो पैसा पैदा करो, अगर पैसा पैदा करना है तो शैतान बनो! अपनी नेकी से तुम भूखे ही मरोगे!" और उन्होंने भी यह बात अपने अनुभवों से ही कही थी। जो जितना अधिक मालदार है वह उतना ही अधिक शैतान है!

लेकिन इसी वक्त मुझे ईश्वर की जरूरत पड़ जाती है। इस वक्त जब विश्वास मिट गया है, जब कुरूप वास्तविकता ने मेरी कल्पना को कुचल दिया है तब मुझे अपने को साहस देने वाले ईश्वर की बहुत बड़ी जरूरत है जो मुझे सही रास्ता दिखलावे।

मेरे अनुभवों ने बतलाया है कि सुख-दुख एक मानसिक स्थिति है। रूखा-सूखा खाना खाने वाले किसान और तरह-तरह के व्यंजन खाने वाले रईस के भोजन के बाद वाले सन्तोष में मैं तो कोई अन्तर नहीं देख पाता। सीधी बात यह है कि

हरेक आदमी अपने सुख का एक केन्द्र बना लेता है मैंने ऐसे करोड़पति देखे हैं जो एक चिथड़ा मिर्जई पहनकर और साग-पात खाकर जिन्दगी पार कर देते हैं।

और मैं सोच रहा हूँ—हम पैसा पैदा करना ही क्यों चाहते हैं? हमें केवल उतने पैसे चाहिये जितनों से हमारी आवश्यकताएँ पूरी हो जायँ। आखिर क्या जिन्दगी का ध्येय पैसा ही पैदा करना है? हम भले ही अठमहले महल बना लें, हम भले ही मजदूरों का पेट काटकर उनकी कमाई उनसे छीनकर, उनके पैसों को अपना कहकर मिलों पर मिलें बनाते चले जाँय, हम भले इलाकों पर इलाके खरीद लें—हमें मरना ज़रूर है। और यह सब जो कुछ हमने दूसरों को सताकर, दूसरों का अभिशाप अपने सर पर लादकर एकत्रित किया है, यहीं का यहीं रह जायगा। और क्या यह जमा जमा अपनी सन्तानों के लिए छोड़कर हम अपनी सन्तानों का कुछ भला कर सकेंगे?

यहाँ भी मुझे ऐसा लगता है कि जहाँ हमारा कर्तव्य है कि हम अपने बच्चों को धर्मज्ञ बनावें, उन्हें ऐसी शिक्षा दें कि वे नेक बनें, वे अपने को विकसित करके दुनिया के विकास में सहायता दे सकें, हम करते यह हैं कि हम उत्पीड़न की शैतानियत और वैभव की पशुता उन बच्चों के लिए वसीयत के रूप में छोड़ जाते हैं। एक बार मेरे एक मिलने वाले ने मजाक-मजाक में मुझसे एक बात कही थी, और कहने के समय शायद उन्हें स्वयं यह न मालूम था कि कितना बड़ा सत्य वे कह रहे हैं। वे

सज्जन ताल्लुक़दारों के खानदान के हैं और उन्होंने ताल्लुक़दारों के व्यर्थ का जिक्र करते हुए कहा था, "अगर मैं ताल्लुक़दार होता तो अपने ताल्लुक़े पर दस-पाँच लाख का क़र्ज़ अवश्य छोड़ जाता। इसी हालत में मेरे लड़के को ताल्लुक़ा पाते ही इस बात को चिन्ता होती कि यह क़र्ज़ कैसे अदा किया जाय। और मेरा लड़का आरम्भ से ही मुसीबतों में पड़कर नेक बनता। जो ताल्लुक़दार मरने के वक़्त दस-पाँच लाख रुपया नक़द छोड़ते हैं वे मानो अपने लड़कों को वसीयत कर जाते हैं कि "इस रुपए से वेश्यागमन करो, शराब पियो और इस प्रकार सदा के लिए अपनी जिन्दगी नष्ट कर लो!"

मैंने अकसर पैसा पैदा करने के लिए अपनी मनुष्यता को बेचने के लिए उत्सुक आदमी से पूछा है, "तुमने इतने गिरे हुए कार्य-क्रम को अपना आदर्श क्यों मान रक्खा है?"

लेकिन मैं जानता हूँ कि लोगों से मेरा यह प्रश्न बेकार ही था। इसका एकमात्र कारण यह है कि लोगों के सामने अभी तक कोई आदर्श भी तो नहीं है। 'सामने' से मेरा मतलब 'समझ में' से है। लोगों को जिन्दगी की सार्थकता का पता नहीं, वे तो जिन्दगी की सार्थकता अपने को दूसरों से पृथक करके अच्छा खाने में, अच्छा पहनने में, अच्छे मकानों में रहने में, अच्छी सवारियों पर चढ़ने में और दूसरों द्वारा आदर पाने में समझते हैं। इस सबके लिए धन चाहिये, और इसी लिए धन के पिशाच

इस बात की आवश्यकता नहीं कि हम वेदों, शास्त्रों, पुराणों का अध्ययन करें, हमें इस बात की आवश्यकता नहीं कि हम माया-ब्रह्म के भेद-भाव को समझें, द्वैत, अद्वैत, शुद्धाद्वैत, विशिष्टाद्वैत से मुझे कोई सरोकार नहीं।

मुझे तो दुनिया के दुःख-दर्द को देखना है। मुझे अपने को इतना अधिक विकसित करना है कि सारी दुनिया के दुख-दर्द को मैं अपना ही समझने लगूँ। मुझे ईश्वर पर विश्वास करते-करते स्वयं ही ईश्वर बन जाना है।

परिग्रहण और दान

एक पंडाल में एक तख्ती पर लिखा था—"परिग्रहण पाप है, दान उसका प्रायश्चित्त है !" वह वाक्य पढ़कर मैं असमंजस में पड़ गया।

मेरे आस पास बैठे हुए लोगों में करीब-करीब सभी ऐसे थे जिनके सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि वे परिग्रहण करते है—और उन लोगों में कई ऐसे थे जो दान भी करते हैं। मुझे उस समय कुछ थोड़ी-सी हँसी भी आई, यह सोचकर कि उन लोगों पर जो परिग्रहण करते हैं और दान देते हैं, इस वाक्य का क्या असर पड़ेगा। और मैंने यह भी देखा कि किसी को उस वाक्य से असंतोष नहीं था, शायद बहुतों ने वाक्य पर ध्यान न दिया हो, और अगर ध्यान भी दिया हो तो उस वाक्य के असली मतलब को न समझा हो।

क्या वास्तव में परिग्रहण पाप है ? यहाँ हमें परिग्रहण के अर्थ को समझना पड़ेगा। उसके रूप को देखना पड़ेगा।

ग्रहण करने के अर्थ होते हैं लेना। मनुष्य स्वामी है, प्रकृति का शासक—और प्रकृति से लेना, ग्रहण करना उसका धर्म है। क्षुधा शान्त करने के लिए भोजन, शरीर ढाकने के लिए वस्त्र, साँस लेने के लिए हवा—हम सब तरह ग्रहण ही करते हैं। पृथ्वी की छाती फाड़कर मनुष्य ने तेल निकाला, सोना, चाँदी, लोहा,

परिग्रहण और दान

एक पंडाल में एक तख्ती पर लिखा था—"परिग्रहण पाप है, दान उसका प्रायश्चित्त है!" वह वाक्य पढ़कर मैं असमंजस में पड़ गया।

मेरे आस पास बैठे हुए लोगों में करीब-करीब सभी ऐसे थे जिनके सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि वे परिग्रहण करते हैं—और उन लोगों में कई ऐसे थे जो दान भी करते हैं। मुझे उस समय कुछ थोड़ी-सी हँसी भी आई, यह सोचकर कि उन लोगों पर जो परिग्रहण करते हैं और दान देते हैं, इस वाक्य का क्या असर पड़ेगा। और मैंने यह भी देखा कि किसी को उस वाक्य से असंतोष नहीं था, शायद बहुतों ने वाक्य पर ध्यान न दिया हो, और अगर ध्यान भी दिया हो तो उस वाक्य के असली मतलब को न समझा हो।

क्या वास्तव में परिग्रहण पाप है? यहाँ हमें परिग्रहण के अर्थ को समझना पड़ेगा। उसके रूप को देखना पड़ेगा।

ग्रहण करने के अर्थ होते हैं लेना। मनुष्य स्वामी है, प्रकृति का शासक—और प्रकृति से लेना, ग्रहण करना उसका धर्म है। क्षुधा शान्त करने के लिए भोजन, शरीर ढाकने के लिए वस्त्र, साँस लेने के लिए हवा—हम सब तरह ग्रहण ही करते हैं। पृथ्वी की छाती फाड़कर मनुष्य ने तेल निकाला, सोना, चाँदी, लोहा,

कोयला निकाला। और ग्रहण करने के स्वाभाविक धर्म के अनुसार आज तक का मानवीय विकास होता रहा। मेरा तो ऐसा ख्याल है कि सृष्टि का मूल उद्देश्य ही यह है कि पुरुष प्रकृति पर विजय पावे, एक-एक करके उसके अनन्त रहस्यों को सुलझा कर। ग्रहण करने का निषेध अस्तित्व का नकारात्मक सिद्धान्त है—मृत्यु है। जीवन कर्म है, कर्म प्रेरणा द्वारा जनित है, प्रेरणा अभिलाषा का रूपान्तर है और अभिलाषा ग्रहण करने की भावना का दूसरा नाम है। ग्रहण करना ही जीवन है।

परिग्रहण का दूसरा अर्थ होता है—दूसरे मनुष्य से ग्रहण करना, अर्थात् दूसरे मनुष्य से छीन लेना। आज के समाज का समस्त संघर्ष, सारी मुसीबत, सारे रक्तपात का मूल कारण है यह परिग्रहण। बजाय इसके कि मनुष्य प्रकृति से ग्रहण करे, वह दूसरे मनुष्यों से ग्रहण करने में विश्वास करने लगा है। ये आलीशान मकान, ये मिल-कारखाने, यह बड़े-बड़े होटल, सिनेमा, रेसकोर्स—ये सब इसी परिग्रहण के दूसरे रूप हैं जहाँ सबल मनुष्य निर्बल मनुष्य से छीन लेता है, जहाँ एक आदमी लाखों आदमियों को कंगाल बनाकर स्वयं वैभवशाली बन जाता है।

इस अर्थ में परिग्रहण पाप है—इसे कोई इनकार नहीं कर सकता। इस परिग्रहण में उत्पीड़न है, पशुता है, असमर्थता है, मानवीय क्षमता और सामर्थ्य पर मनुष्य का अविश्वास है।

जो मनुष्य परिग्रहण करता है वह समाज के प्रति तो अपराधी है ही, वह अपने प्रति भी भयानक रूप से अपराधी है क्योंकि

वह स्वयं अपनी मनुष्यता पर आघात करता है, वह अपने को पशुता की कोटि में गिरा लेता है।

और क्या दान से उस मनुष्य के पापों का प्रायश्चित्त हो सकता है ?

यह कहना कि दान परिग्रहण के पाप का प्रायश्चित्त है, दान की प्रवृत्ति को उत्साहित करना है---मैं यह माने लेता हूँ, पर मै पूछता हूँ कि दान की प्रवृत्ति को उत्साहित करने से परिग्रहण की प्रवृत्ति उत्साहित नहीं होती ?

जिसे यह विश्वास हो जायगा कि दान से परिग्रहण के पाप का प्रायश्चित्त हो जायगा, वह चोरों के साथ खुलकर परिग्रहण करेगा, और उसके साथ एक छोटा सा हिस्सा दान में देकर अपने पापों से मुक्ति पा जायगा। दूसरों को उत्पीड़ित करके दस बीस लाख रुपया पैदा करनेवाला आदमी दस बीस हजार दान देकर तथा अपने पापों से मुक्ति पाकर अपने परिग्रहण के कार्य-क्रम में दत्त-चित्त रहेगा, और इस प्रकार दुनिया में उत्पीड़न बुरी तरह बढ़ता ही रहेगा।

हम हिन्दु दान देने में हरदम आगे रहे हैं। हरिश्चन्द्र, बलि, कर्ण—इनके उदाहरण और आदर्श हरेक हिन्दु के सामने हैं। इतना अधिक दान हिन्दुओं में प्रचलित रहा है कि दान लेना स्वयं परिग्रहण का एक रूप बन गया और भिक्षा-वृत्ति पर जीवित रहने वाले एक समाज का ही सृजन हो गया। और हिन्दू रुपया-पैसा, जमीन-जायदाद ही नहीं, अपनी कन्या और

अपनी पत्नी तक दान में दे देते थे। और इस दानवीर हिन्दू समाज का नैतिक पतन भी इतना अधिक हुआ कि हजारों वर्ष से हिन्दू दूसरों की गुलामी कर रहे हैं।

दान देने वाले को जितना अधिक गिराता है उससे अधिक लेने वाले को गिराता है, और इस लिए दान अपने प्रति तो अपराध है ही, उससे अधिक समाज के प्रति अपराध है। मैंने ऐसे मनुष्यों को देखा है जो कोई काम नहीं करना चाहते जो जीवित रहने के लिए परिश्रम नहीं करना चाहते, जिन्होंने भिक्षा-वृत्ति को अपनी आजीविका बना ली है, जो शरीर से नहीं बल्कि आत्मा से अपाहिज बन गए हैं। और मैं समझता हूँ कि ऐसे लोग मनुष्यता के नाम पर कलङ्क हैं। पर सवाल यह है कि ऐसे लोगों को जन्म किसने दिया? मनुष्यों को इतना कायर, अकर्मण्य और नपुंसक बनाया किसने? उत्तर साफ है – इन दान देने वालों ने।

परिग्रहण पाप है—ऐसा पाप जिसका कोई प्रायश्चित्त नहीं। और दान उससे भी अधिक भयानक पाप है। एक ओर वह परि-ग्रहण को प्रेरित करता है, दूसरी ओर वह संसार में अपाहिजपन को, गुलामी का, अकर्मण्यता को बढ़ाता है। परिग्रहण समाज के लिए ऐसा विष है जिसका उपचार किया जा सकता है, लेकिन दान ऐसा विष है जिसका कोई उपचार ही नहीं। परिग्रहण निर्बल पर शारीरिक उत्पीड़न है, दान निर्बल की आत्मिक मृत्यु है।

एक दूसरी बात और! मैं सोचता हूँ कि परिग्रहण ही क्यों हो जिससे दान देने की आवश्यकता पड़े। ये दातव्य औषधालय, ये अनाथालय, ये निःशुल्क शिक्षालय! इन सबों की जरूरत इसलिए है न कि परिग्रहण की नीति से सबल मनुष्यों ने निर्बलों के उनके जीवित रहने के अधिकार से वञ्चित कर दिया है। और दान द्वारा अपनी आत्मा को छलके तथा उत्पीड़ितों को दूसरों की दया पर निर्भर एवं मानसिक गुलाम बनाकर वही सबल मनुष्य परिग्रहण को अक्षय बनाते हैं।

देना बुरा है—दान के रूप में, सहायता के रूप में नहीं। दूसरों के दुख से द्रवित होकर दूसरों के दुख को दूर करना मनुष्य का सर्वश्रेष्ठ आदर्श है, लेकिन इस स्थान पर देनेवाला लखपती एवं करोड़पती परिग्रहण-कर्ता के रूप में नहीं आता, वह आता है एक मानव के रूप में। सड़क पर पड़े तड़पते हुए रोगी को डाक्टर के यहाँ ले जाकर उसके इलाज पर चार-छै रुपए खर्च कर देनेवाला आदमी उस करोड़पती से कहीं अधिक श्रेष्ठ है जो दस-पाँच लाख रुपया दान करके एक दातव्य औष-धालय खुलवा देता है क्योंकि पहला आदमी एक मानव की हैसियत से सहायता करता है केवल अपने अन्दर वाली दया और करुणा से प्रेरित होकर, और दूसरा आदमी एक करोड़पती की हैसियत से दान करता है—स्वर्ग पाने के लिए, या अपने परिग्रहण के पाप का प्रायश्चित्त करने के लिए।

और मैंने इस दान के रूप को भी देखा है। यह दान उन

व्यक्तियों को मिलता है जो समर्थ हैं, जो समाज के दूषित अंग हैं, जो जोंक बनकर समाज का खून चूस रहे हैं। यह दान कभी भी उस आदमी को नहीं मिलता जिसे सहायता की वास्तव में आवश्यकता होती है। यह दान मनुष्य को नहीं दिया जाता, यह दान दिया जाता है पशु को। दान देनेवाला अपने चाँदी के टुकड़ों द्वारा मानव के स्वाभिमान की, उसके व्यक्तित्व की हत्या करता है। कोई भी स्वाभिमानी आदमी उस दान को स्वीकार नहीं कर सकता क्योंकि वह दान मानवीय भावनाओं से युक्त सहायता के रूप में नहीं होता, वह होता है एक समर्थ और घमण्डी आदमी की कृपा के रूप में।

मैंने उन संस्थाओं को भी देखा है जो दान के बलपर चलती हैं। उन संस्थाओं में वही लोग प्रवेश पा सकते हैं जो समर्थ हैं, जिनके पास साधन हैं, जो समाज में इतने ऊँचे हैं कि वे उन संस्थाओं के प्रबन्धकों से मिलजुल सकें। मैं पूछता हूँ कि फुट-पाथपर रात काटने वाला मजदूर भला किस प्रकार उन प्रबन्धको के पास पहुँच सकता है? और नतीजा यह होता है कि दान का फ़ायदा उठाते हैं वे लोग जो दान-कर्ता के भाई-बन्द हैं। अकसर तो यह होता है कि दान देनेवाले ही अपने दान द्वारा चलने वाली संस्थाओं में यह व्यवस्था कर देते हैं कि उनके भाई-बन्द ही उनके दान का फ़ायदा उठाने पावें।

और इतना सब लिख लेने के बाद फिर वही पंडाल, जिसमें अहिंसा और धर्म पर लम्बे-लम्बे व्याख्यान दिये जाते हैं, वही

जन-समुदाय जो भक्ति और भावना में गद्गद् होकर अश्रु-विमोचन करता है, और वह दफ्ती जिस पर लिखा है "परिग्रहण पाप है—दान उसका प्रायश्चित्त है।" मेरी आँखों के आगे आ जाते हैं। परिग्रहण करनेवाले और दान देनेवाले उस समूह की आत्मछलना, उसकी पाशविकता, उसकी अहम्मन्यता के कारण ही आज करोड़ों आदमी रौरव नरक में पड़े हुए सड़ रहे हैं।

मैं केवल एक बात जानता हूँ—परिग्रहण पाप है और दान उस पाप को हरदम क़ायम रखनेवाला साधन है। परिग्रहण का कोई प्रायश्चित्त नहीं, अगर कोई प्रायश्चित्त हो सकता है तो वह होगा परिग्रहण को ही छोड़ना।

एक साहित्यिक दृष्टिकोण

एक बार हिन्दी के कुछ साहित्यिकों में यह प्रश्न उठा कि क्या कला का वह रूप जो रामायण, महाभारत आदि ग्रंथों में मनुष्यों को देवताओं और दानवों के रूप में देखता है, जो स्वर्ग और नरक के सपनों से अलंकृत है, जो पाप और पुण्य की व्याख्या में ही जीवन का सार देखता है, उचित है ?

हिन्दी के एक प्रमुख साहित्यिक उस सभा में मौजूद थे। उनका मत था कि कला का वह रूप उचित है, उपयोगी है। साथ ही, वहाँ कुछ और लोग भी थे जिन्हें उस रूप के औचित्य और उपयोगिता पर शङ्का थी।

बात रामायण और महाभारत से उठी थी और उन महान ग्रन्थों की कला को अनुचित कहना अधिकांश हिन्दी वाले अनुचित कहने वालों की अनधिकार चेष्टा कहेंगे। मैं भी उन लोगों में एक हूँ, पर मेरा कहना किसी दूसरी बिना पर होगा। मैं तो इतना सोच रहा हूँ, "क्या जो ग्रन्थ हजारों वर्ष से जीवित हैं वे अनुचित कला की नींव पर खड़े हैं ? क्या वाल्मीकि और व्यास आज भी जिन्दा नहीं हैं ?" मैं साफ देखता हूँ कि उनकी कला में वह जीवन है जो उन्हें आज तक जिन्दा रक्खे है और भविष्य में भी एक लम्बे अरसे तक जिन्दा रख सकेगा। उसको अनुचित कहना हमारी अनधिकार चेष्टा है।

हाँ, यह मैं ज़रूर जानता हूँ कला का वह रूप आज के युग में उपयोगी नहीं हो सकता है। मैं समझता हूँ कि युग बदल गया है और मानव-समाज आज कहीं विकसित अवस्था में है। आज हमारा इतना अधिक बौद्धिक विकास हो चुका है कि बहुत से लोग राम के देवत्व पर और रावण के निशाचरत्व पर विश्वास करने को तैयार नहीं। हनुमान ने सूर्य को अपने मुख में रख लिया, रावण के दस सर थे और एक सर गधे का था—यह सब शिक्षित-समाज के लिए हास्यास्पद चीज़ बन गई है। जिस काल में यह सब लिखा गया था उस समय लोगों मे विश्वास था, कल्पना थी। उस समय लोग उन बातों पर विश्वास कर सकते थे, पाप-पुण्य की परिभाषाओं के अनुसार अपनी ज़िन्दगी को ढालने का प्रयत्न कर सकते थे, स्वर्ग का उन्हें लोभ था, नरक से वे डरते थे।

आज भी वैसे लोग हिन्दुस्तान में मौजूद हैं, पर उन लोगों की संख्या दिनों-दिन कम होती जा रही है। मैं जानता हूँ कि रामायण का जितना आदर बीस वर्ष पहले था, आज नहीं है। और अब कितने घरों में महाभारत मिलेगा, पुराण मिलेंगे?

जो कुछ लिखा गया है, कला के पुराने रूप के अनुसार महान कलाकारों द्वारा जो कुछ निर्मित हो चुका है, धर्म की परम्परा जिसके साथ सम्बद्ध है वही अब अधिक दिनों तक ज़िन्दा न रह सकेगा। फिर उसके अनुसार किसी नई चीज़ की सृष्टि तो बिल्कुल जीवन हीन साबित होगी।

जो भी साहित्यकार इस प्रकार के साहित्य का सृजन करता है जिसमें अप्राकृतिक चीजों का समावेश हो, वह साहित्यिक सफल न हो सकेगा—ऐसा मेरा विश्वास है। आज का विकसित मस्तिष्क कल्पना के पेंच-ताव की सहायता नहीं चाहता, रूपकों से उसे विशेष रुचि नहीं ; वह चाहता है सीधी-सादी बातें, जीवन की वास्तविक घटनाएँ जिन्हें वह रोज़ देखता है। और कलाकार को जो कुछ लिखना हो, उसे वह वास्तविक जीवन से ही लेना पड़ेगा।

जिसे हम 'पाप' कहते हैं उसे हम 'कमजोरी' भी कह सकते हैं। 'पाप' और 'कमजोरी' एक ही चीज़ के दो नाम हैं—उनमें कोई अन्तर नहीं; पर इन दो शब्दों के अन्दर निहित मानवीय भावनाओं में ज़मीन-आसमान का अन्तर है।

"वह पापी है।" कहनेवाले मनुष्य के अन्दर घृणा की भावना है। हम यह मानते हैं कि इस घृणा की भावना का मूल कारण कर्म है, व्यक्ति नहीं; लेकिन हम उस समय मनुष्य के कर्म को भूलकर व्यक्ति को उसका उत्तरदायी बना देते हैं। मनुष्य को और उसके कर्म को हम एक मान लेते हैं। यही नहीं, हमारे अन्दर भी घृणा की, असहिष्णुता की भावना प्रबल हो जाती है।

और जब हम कहते हैं, "वह कमजोर है।" तब हम मनुष्य को और उसके कर्म को अलग कर देते हैं। कर्म के प्रति विरोध होते हुए भी मनुष्य के प्रति हम में सहानुभूति होती है। उस समय

हमारे अन्दर भी घृणा और असहिष्णुता की भावना के स्थान पर दया और सहानुभूति की भावना होती है।

'पापी' और 'कमजोर'—इन दो शब्दों में एक ही मनुष्य को दो नज़रों से देखा जाता है। 'पापी' कहने के समय हम 'मनुष्य' की उपेक्षा करते हैं, यानी हम में कोई भी मानवीय भावना नहीं रह जाती. हम 'व्यक्ति' को उपेक्षाजनक प्राणी समझते हैं हमें मतलब केवल उसके कर्मों से रहता है। दूसरे मनुष्य के कर्मों को हम अपने हिताहित के दृष्टिकोण से देखते हैं, और उस समय हम अपने हिताहित को इतनी अधिक महत्ता दे देते हैं कि हम मानवता से अलग होकर दूसरों को अपनी निजी भावना और सुख-दुख का साधन समझने लगते हैं। और वही घृणा का एवं असहिष्णुता का जन्म होता है। पर जब हम मनुष्य को 'कमजोर' कहते हैं तब हम 'मनुष्य' को देखते हैं, उसके कर्मों को हम अधिक महत्व नहीं देते ; हमारी सहानुभूति, सदिच्छा 'मनुष्य' के साथ रहती है। उस समय हमारा 'अपनापन' इतना अधिक विकसित होता है कि हम पूर्ण मानव बनकर दूसरों को अपने अति निकट यहाँ तक कि 'अपना' समझने लगते हैं।

× × ×

हमें इस पाप-पुण्य की घृणा से ऊपर उठना है, हमें मनुष्य के कर्मों को न देख कर मनुष्य को देखना है। मनुष्य के कर्म बुरे हैं, इसलिए मनुष्य को नष्ट कर देने के स्थान पर हमें करना यह है कि हम उसको दया, प्रेम, सहानुभूति, से प्रभावित

करके उसके कर्मों को सुधारें क्योंकि वह मनुष्य है—वह अपना है।

इस बात को बहुत से लोग पागलपन का सपना समझ सकते हैं, समझते भी हैं। पर इतना तय है कि एक लम्बे बौद्धिक विकास के बाद ही इस सपने को मनुष्य ने देखा और दिन प्रतिदिन उस सपने पर मानव-समाज का विश्वास बढ़ता जाता है।

मैं पूछ रहा हूँ कि जब हमने स्वर्ग और नरक का निर्माण किया, जब हमने देवता और दैत्य गढ़े, जब हमने लोगों को पाप और पुण्य के बन्धनों से बाँधा, क्या तब हम मानवता का कल्याण करने में समर्थ हो सके? यह सब जो हमने किया था मनुष्य के हित के लिए, ईमानदारी के साथ किया था, पर इसमें हम बुरी तरह असफल रहे। हमने 'पाप' बनाए और हमने 'पाप' की महत्ता लोगों पर उनमें अंध-विश्वास भर के स्थापित की। उन पापों से मुक्ति पाने के लिए हमने व्रत-उपवास, मन्दिर-मठ, तीर्थ-यात्रा, गंगा-स्नान आदि विधान भी बनाऐ। हमने मनुष्य को शूद्र कहा, चाण्डाल कहा, म्लेच्छ कहा। हमने लोगों को भूखों मारा और अन्त में हमारा इतना भयानक पतन हुआ कि विदेशियों ने हमें गुलाम बना लिया। हम जो पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक पर विश्वास करने वाले थे, हमीं ने स्त्री को सम्पत्ति समझा, सीता को जंगल में निकाल दिया, द्रौपदी को पाँसे पर हार गये। हम जो पशुओं तक पर दया करनेवाले थे, हमीं ने शूद्रों के कान में, वेदमंत्र पड़ जाने से, सीसा गला कर भर दिया।